॥ श्रीः ॥

मनुस्मृति

अर्थात्

मानवधर्मशास्त्र।
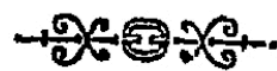
हिन्दीभाषानुवाद–टिप्पण–विषयसूची–श्लोकसूची और विस्तृत-भूमिका-सहिता।

अनुवादक,

पण्डित गिरिजाप्रसाद द्विवेदी

हेड पण्डित.

'नवलकिशोरविद्यालय' गोमती तट,

लखनऊ

बाबू मनोहरलाल भार्गव, बी. ए., सुपरिंटेंडेंट के प्रबन्ध से

मुंशी नवलकिशोर सी. आई. ई., के छापेखाने में छपी

सन् १९१७ ई०

भक्ति। भक्ति, ज्ञान का अवस्था विशेष है। जैसे निराकारोपासना में ज्ञान प्रधान है, इसी प्रकार साकारोपासना में भक्ति प्रधान है। इसके छ प्रकार हैं—(१) मानसी, (२) वाचिकी, (३) कायिकी, (४) लौकिकी, (५) वैदिकी, (६) आध्यात्मिकी। इनके लक्षण पद्मपुराणीय अम्बरीष-नारद के संवाद में यों कहे हैं—

'अथ भक्तिं प्रवक्ष्यामि त्रिविधां पापनाशिनीम्।
त्रिविधा भक्तिरुद्दिष्टा मनोवाक्कायसंभवा॥
लौकिकी वैदिकी वापि भवेदाध्यात्मिकी तथा।
ध्यानधारणया बुद्ध्या वेदानां स्मरणं च यत्॥
विष्णुप्रीतिकरी चैषा मानसी भक्तिरुच्यते।
मन्त्रवेदनमस्कारैरधिसंध्यं विचिन्तनैः॥
जाप्यैश्चारण्यकैश्चैव वाचिकी भक्तिरुच्यते।
व्रतोपवासनियमैस्तथेन्द्रियनिरोधनैः॥
कायिकी सा तु निर्दिष्टा भक्तिः सर्वार्थसाधिका।
भूषणैर्हेमरत्नाढ्यैश्चित्राभिर्वाग्भिरेव वा॥

१ परमेश्वर के विषय में जो इष्टसाधनता का ज्ञान यही भक्ति को उत्पन्न करता है। ज्ञान में अन्तःकरण, भक्ति में बाह्यकरण प्रधान है।

व्रासःप्रभृतिभिः सूत्रैः पत्रैर्व्यजनोत्थितैः।
नृत्यवादित्रगीतैश्च सर्वबल्युपहारकैः॥
भक्ष्यभोज्यान्नपानैश्च या पूजा क्रियते नरैः।
नारायणं समुद्दिश्य भक्तिः सा लौकिकी मता॥
ऋग्यजुःसामजाप्यानि संहिताध्ययनानि च।
क्रियन्ते विष्णुमुद्दिश्य सा भक्तिर्वैदिकी मता॥
दाष्टिर्ष्टित्तिः सोमपानं याज्ञिकं कर्म सर्वशः।
अग्निभूम्यनिलाकाशजलशंकरभास्करम्॥
यमुद्दिश्य कृतं कर्म तत्सर्वं विष्णुदैवतम्।
आध्यात्मिकीयं त्रिविधा ब्रह्मभक्तिः स्थिता नृप॥'

भक्ति के मानसी आदि पहिले तीन प्रकार में अगिले तीन प्रकार अन्तर्भूत हैं, क्योंकि मानसिक, वाचिक और कायिक व्यापार से अन्य कोई व्यापार नहीं हैं। अतएव् इन व्यापारों के दुष्ट होने से मनु ने 'शरीरजैः कर्मदोषैर्याति स्थावरतां नरः। वाचिकैः पक्षिमृगतां मानसैरन्त्यजातिताम्॥' ये तीन दुर्विपाक कहेहैं। मानसी आदि तीन भक्तियों में कर्म और उपासना के प्रतिपादक सारे शास्त्र समाप्त हुए हैं। यही बात उक्त भक्ति लक्षण से जानी जाती है। और जो लौकिकी भक्ति के लक्षण में नृत्य, गीत, वादित्र का प्रसङ्ग आया है, उसका यह आशय है कि सत्त्वगुण के उद्रेक में भक्त[2] स्वयं नृत्य आदि करके अपने उपास्य की प्रसन्नता प्राप्त करै। इसी विषय का उपबृंहण याज्ञवल्क्य ने किया है—

१ 'नृत्यं चोदरार्थं निषिद्धम्' इति श्रीधर स्वामी।

२ भक्त चार प्रकार के—आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी (गीता)।

'यथाविधानेन पठन् सामगायमविच्युतम् ।
सावधानस्तदभ्यासात् परं ब्रह्माधिगच्छति ॥
अपरान्तकमुल्लोप्यं मद्रकं मकरीं तथा ।
औवेणकं सरोबिन्दुमुत्तरं गीतकानि च ॥
ऋग्गाथा पाणिका दक्षविहिता ब्रह्मगीतिका ।
गेयमेतत्तदभ्यासकरणान्मोक्षसंज्ञितम् ॥
वीणावादनतत्त्वज्ञः श्रुतिजातिविशारदः ।
तालज्ञश्चाप्रयासेन मोक्षमार्गं नियच्छति ॥'

प्रायश्चित्ताध्याय. (११२–११४)

इत्यादि वचनों से स्पष्ट ज्ञात होता है कि विषयवासना की बहुतायत से इस समय में देवमन्दिरों में जो नृत्य गान प्रवृत्त होरहे हैं और जो रासलीला[1] आदि जगमगा रही हैं, वे सब परमार्थ में भक्ति के साधन न होकर विक्षेप वा व्यभिचार के अवश्य साधन होते हैं।

इसी अभिप्राय से कहा है—

'उपासना ध्यानधृती समाधिः
स्वर्गापवर्गौ चरितानि दूरे ।

---

१ देखिये श्रावण मास में अयोध्या आदि पुण्यक्षेत्रों में दोलोत्सव (झूला) की बहार । अत एव कहना पड़ा—

'वैधानि कर्माणि यथेष्टमात्रान्पोह्यापनीत्याहह कल्पयित्वा ।
प्रायेण संप्रत्यपरे वरेण्या विश्वंभरार्चां परिपीडयन्ति ॥
विधीयते यत्र न वेदपाठो न वा पुराणागमसद्गतानि ।
उद्योतितातोद्यविधानमद्य्यः किं ? सा सपर्या परमार्थकोटिः ॥
श्रद्धाथ भक्तिर्विहिता यदर्थं सा मूर्तिपूजा क्रमशोऽपयाति ।
यत्राद्भुता वैषयिकाः प्रवाहाः सा भूरिभावं भजते समन्तात् ॥'

चातुर्वर्ण्यशिक्षा.

इतोऽधुना साधुविधां धुनाना
श्रृङ्गारिणां वल्गति रासलीला ॥'

चातुर्वर्ण्यशिक्षा।

भक्ति और भक्तों के प्रसङ्ग में यह हठात् कहना पड़ता है कि वर्तमानकाल में प्रायः अपने अपने वर्ग को निराले ढंग पर चलाने के लिये निराले ही कुछ नियम कायम करने पड़े। इसी कारण से वैष्णव-शैवों में आपस में विरोध बढ़ने लगा, इनमें क्या वैष्णवों में भी आपस में नहीं बनती। पूर्वकाल में जो वैष्णव-शैव आदि सहमत होकर रहते थे वे सब बातें अब उठगईं, परस्पर विद्रोह होने लगा। यहां तक कि पुराने ग्रन्थों में प्रक्षेप कर दिये गये और पुराने के नाम से नये ग्रन्थ बना डाले गये। ऋषियों ने जिसलिये भक्ति को कहा वहां वह न रहकर माला-तिलक पर जा डटी। ये नये वैष्णव लोग शैव, शिवभस्म, रुद्राक्ष आदि की निन्दा करने लगे और शैव वैष्णवों के ऊर्ध्वपुण्ड्र आदि की निन्दा करने लगे। परन्तु विष्णु की निन्दा नहीं, क्योंकि शैव लोग शिव और विष्णु का भेदभाव नहीं मानते जो कोई मानते हों वे शैव ही नहीं हैं और न ऐसे शैव वा वैष्णव ही का होना शास्त्र से सिद्ध है। यही पुराने वैष्णवों का भी मत है। देखिये श्रीतुलसी-दासजी ने अपने रामायण में कहा है—

शिवद्रोही मम दास कहावै ।
सो नर सपनेउ मोहिं न पावै ॥

और इसी अभिप्राय से यह सुभाषित प्रसिद्ध है—

'उभयोरेका प्रकृतिः प्रत्ययभेदाच्च भिन्नवद्भाति।
कश्चिन्मूढः कलयति हरिहरभेदं विना शास्त्रम्॥'

इत्यादि।

और उक्त वैष्णवलोग, जो चार संप्रदायों में विभक्त हैं और जिन संप्रदायों की जाग्रति भारत के अन्तिम सम्राट् पृथ्वीराज चौहान के बाद हुई है; उनमें से पहिले संप्रदायवाले श्रीविशिष्टाद्वैतवादी (आचारी लोग) अपने मत ग्रन्थों में, जो श्रुति स्मृति पुराण इतिहास में धक्का लगानेवाली विष्णुभक्ति प्रकट की है उसका दिग्दर्शन किया जाता है—

'तापादिपञ्चसंस्कारैर्महाभागवताः स्मृताः।
चक्रादिहेतिभिस्तप्तं ताप इत्यभिधीयते॥
संस्कारः प्रथमः प्रोक्तो द्वितीयः पुण्ड्रधारणम्।
तृतीयो नामकरणं वैष्णवं पावनं परम्॥
सार्थज्ञानं चतुर्थं स्यान्मन्त्राध्ययनमुच्यते।
पञ्चमस्तु हरेः पूजा पञ्चरात्रोक्तमार्गतः॥
तदीयार्चनपर्यन्तं हरेराराधनं स्मृतम्।
इत्येवमादिसंस्कारी महाभागवतः स्मृतः॥
अन्येत्ववैष्णवाः प्रोक्ता हीनास्तापादिभिर्द्विजाः।
तथा ह्यवैष्णवा ज्ञेयाः प्राकृताः पापकारिणः॥
वादशास्त्रेषु निपुणास्ते वै निरयगामिनः।
अवैष्णवत्वं विप्राणां महापातकसंमितम्॥

१ आशय। विष्णु और शिव, इन दोनों का भक्तवत्सलता आदि एक ही स्वभाव है, पर ज्ञानभेद से दो मत मिलते हैं सो यह मानना सर्वनाश का निशान है। एवं, विष्णु शिववाचक—हरि हर नाम से भी यही बात सिद्ध होती है—हरि हर की एक प्रकृति (धातु) है प्रत्यय (अ-इ) भेद से दो नाम मालूम होते हैं, यह शास्त्र विरुद्ध है।

अवैष्णवस्तु यो विप्रः सर्वकर्मसु गर्हितः ।
रौरवं नरकं प्राप्य चाण्डालीं योनिमाप्नुयात् ॥
चतुर्वेदी च यो विप्रो वैष्णवत्वं न विन्दति ।
वेदभारभराक्रान्तः स वै ब्राह्मणगर्दभः ॥
पाखण्डितं च पतितमुन्मत्तं शवहारिणम् ।
अवैष्णवं द्विजं स्पृष्ट्वा सवासा जलमाविशेत् ॥
चक्रादिचिह्नहीनेन स्थाप्यते यत्र कर्मणि ।
न सांनिध्यं हरेर्याति क्रियाकोटिशतैरपि ॥
अवैष्णवस्थापितानां प्रतिमानां च वन्दनम् ।
यः करोति स मूढात्मा रौरवं नरकं व्रजेत् ॥
शूद्रादीनां तु रुद्राद्या अर्चनीयाः प्रकीर्तिताः ।
रुद्रार्चनं त्रिपुण्ड्रं च यत्पुराणेषु कीर्तितम् ॥'

ये वचन श्रीविशिष्टाद्वैत-वादियों की वसिष्ठस्मृति में लिखेहैं ।

और—

'तस्मात्त्रिपुण्ड्रं विप्राणां न धार्यं मुनिसत्तमाः ।
यद्यज्ञानात्तं बिभृयुः पतितास्ते न संशयः ॥
अवैष्णवस्तु यो विप्रश्चण्डालादधमः स्मृतः ।
न तेन सह भोक्तव्यमापद्यपि कदाचन ॥'

ये इन लोगों के प्रजापति के वचन हैं । तथा—

'चक्रादिचिह्नरहितं प्राकृतं कलुषान्वितम् ।
अवैष्णवं तु तं दूरात्–श्वपाकमिव संत्यजेत् ॥
रुद्रार्चनाद् ब्राह्मणस्तु शूद्रेण समतां व्रजेत् ।
न भस्म धारयेद् विप्रः परमापद्गतोऽपि वा ॥
मोहाद्वै बिभृयाद्यस्तु स सुरापो भवेद् ध्रुवम् ।'

ये वचन इनकी हारीतस्मृति के हैं ।

तथा—

'विना यज्ञोपवीतेन विना चक्रस्य धारणात् ।
विना द्वयेन[1] वै विप्रश्चण्डालत्वमवाप्नुयात् ॥
अचक्रधारिणं विप्रं यः श्राद्धे भोजयिष्यति ।
रेतोमूत्रपुरीषादि[2] स पितृभ्यः प्रयच्छति ॥
शङ्खचक्रोर्ध्वपुण्ड्रादिरहितो ब्राह्मणाधमः ।
स जीवन्नेव चण्डालः सर्वधर्मबहिष्कृतः ॥'

ये इनकी पराशरस्मृति के उद्गार हैं ।

एवं श्रीविशिष्टाद्वैत-वादियों (आचारियों) के कल्पित अन्यान्य ग्रन्थ भी हैं । जैसे—भार्गवपुराण, पद्मपुराणीय उत्तर खण्ड, भारद्वाजसंहिता,[3] परमेश्वरसंहिता, बृहद्ब्रह्मरहस्यसंहिता, सुदर्शनमीमांसा, चक्रोल्लास, प्रपन्नामृत, नारायणसारसंग्रह इत्यादि ।

यह अनूठा निन्दा प्रकार देखकर आश्चर्य होता है और इन्हों के लिखे हुए रागद्वेषकलुषितवाक्यों से ब्राह्मणों की चण्डालता, इनसे अन्य वैष्णवों की अवैष्णवता, तथा शिवा-दिकों की अपूज्यता आदि कैसे सिद्ध होसकती है, कथमपि

---

१ द्वयसंज्ञक मन्त्र ये हैं—

'श्रीमन्नारायणचरणौ शरणं प्रपद्ये' 'श्रीमते नारायणाय नमः' इनकी प्रशंसा कई स्थान में है । (वैष्णव प्रदीप)

२ विज्ञजन 'आदि' शब्द का अर्थ ढूंढ़ें ।

३ आप लोगों की भारद्वाजसंहिता का वचन है कि—

'नातिसङ्गं परिचरेत् पित्रादीनप्यवैष्णवान् ।
ब्रह्मरुद्रदिगीशार्कतच्छक्तिप्रभवादयः ॥
नित्यमभ्यर्चने वर्ज्याः कामोऽपि स्यान्न तन्मुखः ॥'

नहीं । यह बात मनु, याज्ञवल्क्य, व्यास आदि के वाक्यों से विवेक रखनेवालों को अज्ञात नहीं है इसीलिये अधिक कहना व्यर्थ है । और उक्त वाक्यों से जो चक्रशंख से शरीर का अङ्कन तथा ऊर्ध्वपुण्ड्र का धारण विधान किया है उसमें से चक्र-शङ्ख वा धनुर्बाण से वैष्णवों का अङ्कन[1] और त्रिशूल-डमरू से शैवों का अङ्कन[2] त्रैवर्णिकों का धर्म नहीं है, किंतु अन्यों का धर्म है । और ऊर्ध्वपुण्ड्र का धारण त्रैवर्णिक-धर्म भी है; परन्तु नाना द्रव्यों से नानाप्रकार का ऊर्ध्वपुण्ड्र सर्व-वैष्णव-मान्य नहीं है, अत एव प्रत्येक संप्रदायों के ऊर्ध्वपुण्ड्रों के आकार पुराणों में नहीं प्राप्त होते । अङ्कन के विषय में कतिपय श्रुति प्रमाण दी जाती हैं उनमें से पहली श्रुति यह है—

'पवित्रं ते विततं ब्रह्मणस्पते प्रभुर्गात्राणि पर्येषि विश्वतः ।
अतप्ततनूर्नतदामोऽश्नुते शृतास इद्वहन्तस्तत्समासत ॥'
(ऋक् सं० ७ अष्टक ३ अध्या० ८ वर्ग ५ मं०)

इस मन्त्र से अङ्कन कथमपि नहीं सिद्ध होता । यह सोम के सम्बन्ध का मन्त्र है (देखिये वेदभाष्य)

दूसरी श्रुति—

'सहोवाच याज्ञवल्क्यः, तस्मात् पुमान् आत्महिताय हरिं भजेत् । सुश्लोकमौलेर्वर्माण्यग्निना संदधते ॥'

यह श्रुति 'शतपथ' के नाम से निर्णयसिन्धु में लिखी है; परंतु 'शतपथ' में नहीं प्राप्त होती ।

१-२ धनुर्बाण से अङ्कन अर्थात् तप्तमुद्रा धारण वैरागियों में और त्रिशूल-डमरू से अङ्कन लिङ्गायतों में प्रसिद्ध है ।

२ 'शिवकेशवयोरङ्कान् शूलचक्रादिकान् द्विजः ।
न धारयेत मतिमान् वैदिके वर्त्मनि स्थितः ॥'
निर्णयसिन्धु ३ परि०

तीसरी श्रुति—

'प्रतद्विष्णो अञ्जचक्रे सुतप्ते जन्माम्भोधी तर्तवे चर्पणीन्द्राः।
मूले बाह्वोर्दधन्ये पुराणा तु लिङ्गान्यङ्के तप्तायुधान्यर्पयन्त॥'

यह श्रुति सामवेद के नाम से लिखी है, परंतु उसमें नहीं प्राप्त होती। यदि कहीं 'अल्लोपनिषद्' के समान कल्पित भाग में मिले तो भलेही मिलो।

और—

'अग्निहोत्रं तथा नित्यं वेदस्याध्ययनं तथा।
ब्राह्मणस्य तथैवेदं तप्तमुद्रादिधारणम्॥'

यह पद्मपुराण का वचन है, इसमें वेदपाठ-अग्निहोत्र के तुल्य अङ्कन-विधि लिखी है, यदि वास्तव में ऐसी ही होती तो वेदपाठ अग्निहोत्र के समान अङ्कनविधि भी ब्राह्मण, कल्पसूत्र और मन्त्रादि ग्रन्थ में अभ्रान्त प्राप्त होती और वेदपाठ अग्निहोत्र के समान अङ्कन के विषय में किसी को संदेह न उत्पन्न होता। परंतु इस अङ्कन (तप्तमुद्राधारण) को श्रीरामानुजाचार्य तथा श्रीमध्वाचार्य के संप्रदायवालों को छोड़कर अन्यसंप्रदायी भी नहीं मानते तो औरों की क्या कथा है?

ऊर्ध्वपुण्ड्र विशेष के विषय में ये वचन मिलते हैं—

नारद उवाच।

ऊर्ध्वपुण्ड्रविधिं द्रव्यमन्त्रस्थानादिसंयुतम्।
ब्रूहि मे देवदेवेश यथाहं धारयामि (वै)॥ ७६॥

श्रीवासुदेव उवाच।

श्वेतं पीतं तथा रक्तं द्रव्यं तु त्रिविधं स्मृतम्।
पुण्ड्राणां धारणे विप्र मयैव प्रकटीकृतम्॥ ७७॥
तेषु रक्तं श्रिया देव्या मत्स्नेहात्प्रकटीकृतम्।

श्रीकुङ्कुमेति विख्यातं सदा माङ्गलिकं मुने ॥ ७८ ॥
केवलं भक्तिदं पुंसाममङ्गलविनाशनम् ।
पुण्ड्राणामन्तरालस्थं मुक्तिदं मुनिसत्तम ॥ ७९ ॥
समुद्रमथनोद्भूता कमला मम वल्लभा ।
यदा तदाब्धिनाप्येषा दातुं मां समलंकृता ॥ ८० ॥
सुरासुराणां मध्ये च स्वयमेव विधानतः ।
दातुं कन्यां कञ्जकरां समुद्रः समुपस्थितः ॥ ८१ ॥
सा तमालोक्य देवेशमात्मनो हितमीश्वरम् ।
प्रेमातिशयतो नेत्रादम्भोबिन्दुममूमुचत् ॥ ८२ ॥
तेनाभूद् वीरुधः प्रेम नियतः परमाद्भुतः ।
तेनैव सा हरिं प्राप्ता वीरुधेन स्वयंवरे ॥ ८३ ॥
हरिं द्राति परप्रेम्णा निजार्थोत्र विचार्य (सा) ।
प्रापणाच्च हरेः साक्षाद् हरिद्रेयं प्रकीर्तिता ॥ ८४ ॥
लक्ष्म्याः प्रेमतरुः साक्षाद् हरेरत्यन्तवल्लभः ।
संवीक्ष्य चिह्नितं तेन भक्तं प्रीणाति केशवः ॥ ८५ ॥
लक्ष्मीप्रेमात्मकं द्रव्यं साक्षात्किं न करोति च ।
धनधान्यं समृद्धिं च रूपसौभाग्यसंपदम् ॥ ८६ ॥
विवाहव्रतवन्धादि जन्मयात्रासु युज्यते ।
द्रव्यं माङ्गलिकं साक्षाद् हारिद्रं प्रेमभाजनम् ॥ ८७ ॥
या नारी भालदेशे तु बिभर्ति प्रत्यहं द्विज ।
सा नारी लभते भाग्यं सुखं च निजमन्दिरे ॥ ८८ ॥
लक्ष्मीर्न मुञ्चति प्रेम्णा पार्श्वं तस्यास्त्वहर्निशम् ।
प्रयच्छति वरान् प्रीता जायते पतिवल्लभा ॥ ८९ ॥
' लक्ष्मी प्रेमसमुद्भूते हरिद्रे हेमसंनिभे ।
बिभर्मि त्वां महाभागे वरदा भव ते नमः ॥ ९० ॥ '

इति मन्त्रेण या नारी श्रीचूर्णमभिमन्त्रितम् ।
स्नात्वा धारयते नित्यं सा लक्ष्मीव विराजते ॥ ९१ ॥
लक्ष्मीरूपमिदं द्रव्यं पुण्ड्रमध्ये विभर्ति यः ।
दास्यं स लभते विष्णोः सत्यं सत्यं ब्रवीम्यहम् ॥ ९२ ॥
पुण्ड्ररूपेण मां विद्धि रेखारूपेण वै श्रियम् ।
संधारयन्ति ये भाले बाहुवक्षस्थलादिषु ॥ ९३ ॥
ज्ञानाय मुक्तये चूर्णं पुण्ड्रमध्ये बिभर्ति यः ।
स प्रियो ह्यावयोर्भूत्वा मामकं धाम याति हि ॥ ९४ ॥
अज्ञोऽपि[1] ज्ञानसिद्ध्यर्थं भुक्त्यर्थं चापि यो भजेत् ।
ज्ञानं मुक्तिमवाप्नोति रहस्यं ते ब्रवीम्यहम् ॥ ९५ ॥
हरिद्रासंभवं चूर्णं टङ्कणेन समन्वितम् ।
भावितं चाम्लद्रव्येण रक्तत्वमुपयाति[2] हि ॥ ९६ ॥
वैवाहिकेषु योगेषु स्नात्वामलकवारिणा ।
संस्मृत्य परमां देवीं कमलां मम वल्लभाम् ॥ ९७ ॥
हिरण्यवर्णाममलां वसुपात्रकरद्वयाम् ।
मातुलिङ्गधरां देवीं गन्धद्वारां मनोरमाम् ॥ ९८ ॥
पूजार्थं तत्र देवेशि वैकुण्ठप्राणवल्लभे ।
आज्ञां देहि महामाये श्रीचूर्णं साधये यथा ॥ ९९ ॥
हिरण्यवर्णेतिऋचां पञ्चकेन महामनाः ।
प्रोक्षयेद् रजनीद्रव्यं पञ्चगव्येन शोधयेत् ॥ १०० ॥

---

१ कैसा सुलभ अनुष्ठान है ।

२ यही पदार्थ श्री-रोली-कुङ्कुम-आदि नाम से प्रसिद्ध है । श्री हनुमान् आदि कतिपय मूर्ति पर रोली के बदले सिन्दूर चढ़ाया जाता है वा सिन्दूर का स्वतन्त्र विधान है ?

अस्त्रमन्त्रेण संरक्ष्य कवचेनावगुण्ठ्य च ।
पञ्चामृतेन संस्नाप्य तक्रमध्ये निचिक्षिपेत् ॥ १०१ ॥
भूमिं संलिप्य तद्भाण्डं स्थापयेन्मृण्मयोद्भवम् ।
रात्रौ संरक्षयेद् दुष्टच्छायातो हृष्टमानसः ॥ १०२ ॥
ग्रन्थीनां तक्षणां कुर्याद् इतिर्णा सूक्तमुच्चरन् ।
द्वितीये मृण्मये भाण्डे छायाशुष्कं विधाय च ॥ १०३ ॥
प्रातः स्नात्वा शुचिर्भूत्वा नित्यकर्म विधाय च ।
पात्रमुद्धृत्य हृन्मन्त्रं जप्त्वा कुर्याद् बहिस्ततः ॥ १०४ ॥
भावयेदम्लद्रव्येण शुद्धनिम्बूद्भवेन च ।
अम्लपिष्टेन वा तत्र टङ्कणं पातयेद् बुधः ॥ १०५ ॥
दत्वा चैरण्डपत्राणि मुखे मारुतवर्जिते ।
प्रदेशे स्थापयेद् यावद्रक्तत्वमुपजायते ॥ १०६ ॥
तावद्विधूपयेन्नित्यं यथा छाया न संक्रमेत् ।
पश्चात् संशोध्य यत्नेन शिलया चूर्णयेद् दृढम् ॥ १०७ ॥
सुगन्धस्नेहतैलेन भावयेच्चन्द्रकेण वा ।
देव्याः प्रीतिकरं चूर्णं निष्पन्नं जायते यदि ॥ १०८ ॥
वासयेन्मालतीपुष्पैस्तिलानीव महामनाः ।
यावत्संपद्यते गन्धः श्रीचूर्णं कमलाप्रियम् ॥ १०९ ॥
निष्पाद्य मङ्गलद्रव्यमष्टपत्रे च धारयेत् ।
पूजयेद् विविधोपायैस्तथा नीराजयेन्निशि ॥ ११० ॥
द्वादश्यां जन्मसमये श्रीदेव्याः प्रयतो नरः ।
संपूज्य परमां देवीं सर्वावरणसंयुताम् ॥ १११ ॥

---

१ साधन प्रकार ।

इदं द्रव्यं मया देवि प्रीत्या निष्पादितं तव ।
स्वीकुरुष्व महामाये विष्णुपत्नि नमोऽस्तुते ॥ ११२ ॥
धारणार्थं पृथक् कुर्याद् बिल्वपात्रे विशेषतः ।
श्रियै जातेति वा केन विभृयादिति मे मतम् ॥ ११३ ॥
पुण्ड्रार्थं श्वेतद्रव्यं हि समानीतं गरुत्मता ।
श्वेतद्वीपान्महाभाग मलयाद्रौ निवेष्टितम् ॥ ११४ ॥
मलयाद्रिसमुद्भूतां मृदमादाय वैष्णवः ।
करोति चोर्ध्वपुण्ड्राणि स ऊर्ध्वपदमश्नुते ॥ ११५ ॥
यस्य भाले हरेर्नाम श्वेतद्रव्येण दृश्यते ।
अन्तकाले मृतो याति श्वेतद्वीपं स पातकी ॥ ११६ ॥
न तथा वल्लभं विष्णोश्चन्दनं कुङ्कुमान्वितम् ।
यथा मलयकूटस्थं यद् द्रव्यं चन्द्रपाण्डुरम् ॥ ११७ ॥
विष्णोर्ललाटे यः प्रेम्णा करोति तिलकं मुदा ।
श्वेतद्वीपमृदा नित्यं स प्रियः कमला यथा ॥ ११८ ॥
स्नाने दाने प्रयाणे च श्राद्धे पर्वणि मङ्गले ।
होमे सुरार्चने पुण्या श्वेतद्वीपामलामही ॥ ११९ ॥
श्रीगोपीचन्दनं नाम पीतद्रव्यं महामते ।
वैकुण्ठलोकादानीतं द्वारकायां प्रतिष्ठितम् ॥ १२० ॥
सर्वेषां गोपनाद् गोपो वासुदेवोऽहमेव हि ।
अनन्ताः शक्तयो गोप्यो मदीया एव नारद ॥ १२१ ॥
मदङ्गलेपितं पुण्यं वैकुण्ठे कुङ्कुमान्वितम् ।
गोपीभिः क्षालितं तस्माद् गोपीचन्दनमुच्यते ॥ १२२ ॥'
'भावयन्त्यपरे भक्ताः पुण्ड्रं तु हरिमन्दिरम् ।

---

१ ऊर्ध्वपुण्ड्र की निरुक्ति ।

लक्ष्मीनारायणं तत्र बुद्ध्या ध्यायन्ति नित्यशः ॥ १३५ ॥'
..................इत्यादि। (बृहद्ब्रह्मसंहिता चतुर्थपाद)
'अशुचिर्वाप्यनाचारी महापापयुतोऽपि हि।
पुण्ड्रसंधारणादेव निर्भयत्वं प्रपद्यते ॥ ५६ ॥
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रा म्लेच्छा वान्त्यजजातयः।
ऊर्ध्वपुण्ड्रधराः सर्वे नमस्या देवता इव ॥ ५७ ॥'
..................इत्यादि। (बृहद्ब्रह्मसंहितासुदर्शनगीता.)

उक्त ऊर्ध्वपुण्ड्र से पूर्णरीत्या सहमत श्रीरामानुजाचार्य के अनुयायियों को छोड़कर अन्यसंप्रदायी वैष्णव भी नहीं हैं और ऊर्ध्वपुण्ड्र के विषय में निर्णयसिन्धु आदि ग्रन्थों में भी अनेकानेक संकीर्ण वाक्य प्राप्त होते हैं जिनका निर्णय अल्प-साधन से दुःशक है। वैष्णव चार संप्रदायों के जो चार आचार्य हुए हैं उनमें श्रीरामानुजस्वामी भारी विद्वान् हुए, आप जिस संप्रदाय में दीक्षित हुए उसके प्रथमाचार्य श्रीशठकोप शूद्रजातीय थे, यह वृत्त श्रीनिवासाचारिकृत दिव्यसूरिचरित्र नामक ग्रन्थ के चौथे सर्ग से ज्ञात होता है और उनके विषय में—

'विचक्षणो विश्वविमोहहेतुः
कुलोचिताचारकलानुषक्तः।
पुण्ये महीसारपुरे विधाय
विक्रीय शूर्पं विचचार योगी ॥'

यह श्लोकभी सुप्रसिद्ध है।

आधुनिक वैष्णवों का शैवों[1] के साथ द्वेष क्यों। जब शैव, विष्णु को पूज्यतम मानते हैं, और तुलसी आदिका

१ यहां शैवशब्द से स्मार्त उपासकमात्र का ग्रहण है।

शिवपूजन में उपयोग करते हैं, विष्णुचरणामृत तथा एकादशी-जन्माष्टमी-व्रत से पराङ्मुख नहीं हैं, इस दशा में पूर्वापर विचार से यही ज्ञात होता है कि जब श्रीशठकोप आदि शूद्राचार्य के संप्रदाय में श्रीरामानुज आदि ब्राह्मण व्यक्ति दैववशात् प्रवृत्त हुए और ये लोग अपने ब्राह्मणसमाज में शूद्राचार्यक होने के कारण हीनदृष्टि से व्यवहृत हुए तब कुपित होकर इन लोगों ने अपने संप्रदाय के प्रतिष्ठार्थ अनेक ग्रन्थ और वाक्य बनाये तथा श्रुति-स्मृति को गौरवार्थ ढाल बनाया। जो अन्य वैष्णव भी इनके आचार से सहमत हुए वे भी इन लोगों की तरह शैवद्वेषी हुए। बाक़ी संप्रदायी वैष्णव भी शैवद्वेषी न हुए। जैसे वल्लभ-संप्रदायी वैष्णव लोग.... ।

'परमेश्वरैक्य' प्रकरण में पञ्च देवताओं का ऐक्य अनेक प्रकार से सिद्ध हो चुका है। अब विष्णु और शिव के कतिपय घनिष्ठ संबन्धों को दिखलाते हैं—जब शिव, विष्णुपदी[1] (गङ्गा) को धारण करते हैं और विष्णु, शिवकृपा से प्राप्त चक्र[2] (सुदर्शन) को धारण करते हैं तथा विष्णु-शिव मिलकर हरिहर (हरिहरावतार[3]) बने; तब उपास्यों के ऐसे हिलमिल वर्ताव में उपासकों का अनमिल वर्ताव क्यों ? और

---

१ 'गाङ्गं वारि मनोहारि मुरारिचरणच्युतम् । त्रिपुरारिशिरश्चारि पापहारि पुनातु माम् ॥'

२ 'हरिस्ते साहस्रं कमलबलिमाधाय पदयोर्यदेकोने तस्मिन्निजमुदहरन्नेत्रकमलम् । गतो भक्त्युद्रेकः परिणतिमसौ चक्रवपुषा त्रयाणां रक्षायै त्रिपुरहर जागर्ति जगताम् ॥'

३ अर्धं दानववैरिणा गिरिजयाप्यर्धं शिवस्याहृतं देवेत्थं जगतीतले स्मरहराभावे समुन्मीलति । गङ्गा सागरमम्बरं शशिकला नागाधिपः क्ष्मातलं सर्वज्ञत्वमधीश्वरत्वमगमत्त्वां मां च भिक्षाटनम् ॥'

विष्णुने रामरूप से रामेश्वर (लिङ्ग) की स्थापना की तथा कृष्णरूप से पुत्रार्थ शिव की तपस्या की, ये बातें रामायण और भारत आदि में विख्यात हैं। और देखिये शिवकी दिव्यमूर्ति की यह महिमा लिखी है—

'तवैश्वर्यं यत्नाद् यदुपरि विरञ्चिर्हरिरधः
परिच्छेत्तुं यातावनलमनलस्कन्धवपुषः।
ततो भक्तिश्रद्धाभरगुरुगृणद्भ्यां गिरिश य-
त्स्वयं तस्थे ताभ्यां तव किमनुवृत्तिर्न फलति ॥ १ ॥

और देखिये इतिहास-पुराणधुरन्धर रोमहर्षण (सूत) का नैमिषीय ऋषियों के प्रति यह वचन है—

'विष्णुर्विश्वजगन्नाथो विश्वेशस्य शिवस्य तु।
आज्ञया परया युक्तो व्यासो जज्ञे गुरुर्मम ॥'

(सूतसंहिता माहात्म्यखण्ड १ अध्या० ४२ श्लो०)

इत्यादि अनेकानेक प्रमाणों से विशिष्टाद्वैतवाद के अनुसार विष्णु शिव के मूर्तिभेद मानने पर भी उनका परस्पर पूज्य-पूजक वा ध्यातृ-ध्येय भाव के निर्बाध होने से जगत् की एक स्वामिकता में विरोध नहीं है।

और जो स्मृति-पुराण-महर्षियों को गुण विभाग से विभक्त मानते हैं, तथा विष्णु के अतिरिक्त शिवादि मोक्ष को नहीं दे सकते—इत्यादि गीत गाया करते हैं; वे सब बातें वास्तविक विचार से विरुद्ध हैं। यह मात्स्य वचन है—

'यस्मिन् कल्पे च यत्प्रोक्तं पुराणं ब्रह्मणा पुरा।
तस्य तस्य च माहात्म्यं तत्स्वरूपेण वर्ण्यते ॥
अग्नेः शिवस्य माहात्म्यं तामसेषु प्रकीर्तितम्।
राजसेषु च कल्पेषु माहात्म्यं ब्रह्मणो विदुः ॥

संकीर्णेषु सरस्वत्या पितृणां च निगद्यते।
सात्त्विकेषु च कल्पेषु माहात्म्यमधिकं हरेः॥
तेष्वेव योगसंसिद्धा गच्छन्ति परमां गतिम्॥'

यह स्मृतिविभाग है—

'मानवी याज्ञवल्की च आत्रेयी दाक्षिणी तथा।
कात्यायनी वैष्णवी च राजसी स्वर्गदा स्मृतिः॥
शाङ्खी चौशनसी देवि तामसी नियमप्रदा।'

यह पुराणविभाग है—

"वैष्णवं नारदीयं च तथा भागवतं शुभम्।
गारुडं च तथा पाद्मं वाराहं शुभदर्शनम्॥
षडेतानि पुराणानि सात्त्विकानि मतानि मे।"
ब्रह्माण्डं ब्रह्मवैवर्तं मार्कण्डेयं तथैव च।
भविष्यद् वामनं ब्राह्मं राजसानि मतानि मे॥'
'मात्स्यं कौर्मं तथा लिङ्गं शैवं स्कान्दं तथैव च।
आग्नेयं च षडेतानि तामसानि मतानि मे॥'

यह महर्षिविभाग है—

'कणादं गौतमं शक्तिमुपमन्युं च जैमिनिम्।
कपिलं चैव दुर्वासं मृकण्डुं च बृहस्पतिम्॥
भार्गवं जमदग्निं च दशैतांस्तामसानृषीन्।'

यह मोक्षहेतु है—

'पश्यत्येनं जायमानं ब्रह्मा रुद्रोऽथवा पुनः।
रजसा तमसा चैव मानसं समभिप्लुतम्॥
जायमानं हि पुरुषं यं पश्येन्मधुसूदनः।
सात्त्विकः स तु विज्ञेयः स वै मोक्षार्थचिन्तकः॥'

यहां ये सब वाक्य सात्त्विक गुण के अभिप्राय से आपाततः

आदर किया है। और पद्मपुराण के निम्नलिखित वाक्यों से जो निन्दा प्राप्त होती है वह अविचारित-रमणीय है अर्थात् जब तक उन वचनों का विचार न किया जावे तब तक ही वे

वचन और निन्दा सत्य प्रतीत होते हैं विचार के बाद सब निर्मूल हैं—

'शृणु देवि प्रवक्ष्यामि तामसानि यथाक्रमात्।
येषां श्रवणमात्रेण पातित्यं ज्ञानिनामपि॥
प्रथमं हि मयैवोक्तं शैवं पाशुपतादिकम्।
मच्छक्त्यावेशितैर्विप्रैः संप्रोक्तानि ततः परम्॥
कणादेन च संप्रोक्तं शास्त्रं वैशेषिकं मतम्।
गौतमेन तथा न्यायं सांख्यं तु कपिलेन च॥
धिषणेन तथा प्रोक्तं चार्वाकमतिगर्हितम्।
दैत्यानां नाशनार्थाय विष्णुना बुद्धरूपिणा॥
बौद्धशास्त्रमसत् प्रोक्तं नग्ननीलपटादिकम्।
मायावादमसच्छास्त्रं प्रच्छन्नं बौद्धमुच्यते॥
मयैव कथितं देवि कलौ ब्राह्मणरूपिणा।
अपार्थं श्रुतिवाक्यानां दर्शयल्लोकगर्हितम्॥
परेशजीवयोरैक्यं मयात्र प्रतिपाद्यते।
ब्रह्मणोऽस्य परं रूपं नैर्गुण्यं वक्ष्यते मया॥
सर्वस्य जगतोऽप्यत्र मोहनार्थं कलौ युगे।
वेदार्थवन्महाशास्त्रं मायावादमवैदिकम्॥
मयैव वक्ष्यते देवि जगतां क्लेशकारणात्।
द्विजन्मना जैमिनिना पूर्वं वेदमपार्थतः॥
निरीश्वरेण वादेन कृतं शास्त्रं महत्तरम्।
षोडशाध्यायसंयुक्तं तामसं तामसप्रियम्॥'

पद्मपुराण उत्तरखण्ड.

देखिये—पञ्चरात्र को निकाल दिया है जिसके बारे में पहिले मतामत का विचार होचुका है। वास्तव में निषिद्ध पाशु-

पत और पञ्चरात्र का खण्डन ब्रह्मसूत्रही में आचुका है और अनिषिद्ध पाशुपत तथा पञ्चरात्र सर्वथा ग्राह्य हैं यह विचार भी पहिले आचुका है। सांख्य और तत्समान तन्त्र-योग के प्रधान कारण वादादि कतिपय विषय का निरास ब्रह्मसूत्रही में आया है बाकी के विषय माननीय हैं, इसीलिये सांख्य-योग की महिमा सर्वत्र प्रसिद्ध है। न्याय और वैशेषिक के भी कतिपय अंश दूष्य हैं उनका भी खण्डन ब्रह्मसूत्र में लिखा है। चार्वाकादि नास्तिक दर्शन की अग्राह्यता सर्वत्र सुप्रसिद्ध है जिसका यहां प्रस्ताव ही नहीं है। बाकी रही पूर्वोत्तरमीमांसा; जिनमें पूर्वमीमांसा का निरास पद्मपुराण के ही वाक्य से प्राप्त हुआ। और उत्तरमीमांसा का नामही नहीं है; यदि 'मायावाद' शब्द से उसका नाम ग्रहण किया जाय तो उत्तरमीमांसा का प्रतिपाद्य मायावाद सिद्ध होगा, वह इष्ट नहीं है; यदि स्वतन्त्र ग्रन्थ माना जाय तो इस नाम का धार्मिक ग्रन्थ मिलना चाहिये; यदि मायावाद स्वतन्त्र विषय मानाजाय तो विषयी ग्रन्थों की गणना में विषयमात्र का निर्देश विरुद्ध है; यदि वक्ता के अभिप्राय से शाङ्कर-भाष्य मानलिया जावे तो भी पद्मपुराण के कथनमात्र से वह अग्राह्य कथमपि नहीं हो सकता और पूर्वमीमांसा की मान्यता के बारे में पराशर-पुराण का वाक्य लिखा जा चुका है। विचार का विषय है कि जब मायावाद, ब्रह्म जीवैक्य तथा नैर्गुण्य (निर्विशेषत्व) आदि वेदान्त के विषय अद्वैतवाद के अनुयायी हैं और अद्वैत वाद तथा मायावाद आदि, श्रुति-स्मृति-इतिहास-पुराण संस्कृत भाषा निबन्धों में परिपूर्ण रीति से कहे हैं तब उनका अन्यान्य अभिप्राय है यह कहना वा इसके लिये प्रयत्न करना

आकाश में धूलिप्रक्षेप वा बीजवाप वा मुष्टिप्रकार के समान गिना जाता है । और जो उक्त ग्रन्थों को तामस ठहराया है वह उनकी पारिभाषिक संज्ञा है और जो पातित्य कारणता बतलाई है वह भी—

'शङ्खचक्रोर्ध्वपुण्ड्रादिरहितो ब्राह्मणाधमः ।
स जीवन्नेव चण्डालः सर्वधर्मबहिष्कृतः ॥'

इसके समान उनका हृदयोद्गार है । ऐसी दशा में उक्त वाक्य पद्मपुराणीय हैं वा भविष्योत्तरखण्ड के समान अनाकर हैं, यह विचारकों को उपायन किया जाता है ।

मायावाद—माया, अज्ञान, प्रकृति आदि नाम एकही वस्तु के हैं वह सत् वा असत् रूप से निर्वचन करने योग्य नहीं है इसीलिये अनिर्वचनीय कहलाती है । अनिर्वचनीय ख्याति का प्रतिपादन गौड ब्रह्मानन्द प्रणीत ख्यातिवाद आदि ग्रन्थों में है । उस अनिर्वचनीय-माया का विलास इन्द्रजाल आदि दृष्टान्त से आध्यात्मिक प्रकरणों में कहा है । माया के संबन्धही से वह निर्विशेष ब्रह्म 'मायी' कहलाता है 'जालवान्' बतलाया जाता है; इस विषय में 'अस्मान् मायी सृजते विश्वमेतत्' 'य एको जालवानीशते' 'भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः' इत्यादि श्रुति प्रसिद्ध हैं जिनके पूरे विचार होने के लिये ग्रन्थान्तर की अपेक्षा है । यहां यह भी श्लोक द्रष्टव्य है—

'गुणानां परमं रूपं न दृष्टिपथमृच्छति ।
यत्तु दृष्टिपथं प्राप्तं तन्मायैव सुतुच्छकम् ॥'

योगसूत्रीय व्यासभाष्य.

'एवं बुद्ध्वा जगद्रूपं विष्णोर्मायामयं नृपा ।'

ब्रह्मपुराण.

श्रीरामानुजाचार्य नारायण के कलावतार थे यह इन वचनों से ज्ञात होता है—

‘यत्र मे लोककल्याणकारिणी परमा कला ।
द्विजरूपेण भविता या तु संकर्षणाभिधा ॥ ६६ ॥
द्वापरान्ते कलेरादौ पाखण्डप्रचुरे जने ।
रामानुज इति ख्याता विष्णुधर्मप्रवर्त्तिका ॥ ६७ ॥
श्रीरङ्गेश-दयापात्रं विद्धि रामानुजं मुनिम् ।
येन संदर्शितः पन्था वैकुण्ठाख्यस्य सद्मनः ॥ ६८ ॥
परमैकान्तिको धर्मो भवपाशविमोचकः ।
यत्रानन्यतया प्रोक्तं आवयोः पादसेवनम् ॥ ६९ ॥
कालेनाच्छादितो धर्मो मदीयोऽयं वरानने ।
तदा मया प्रवृत्तोऽयं तत्कालोचितमूर्त्तिना ॥ ७० ॥
विष्वक्सेनादिभिर्भक्तैः शठारिप्रमुखैर्द्विजैः ।
रामानुजेन मुनिना कलौ संस्थापयिष्यते ॥ ७१ ॥

बृहद्ब्रह्मसंहिता-द्वितीयपाद.

और श्रीरामानुजाचार्य निर्णीत विशिष्टाद्वैत का नामोल्लेख यों आया है—

'गुणिनस्तु गुणो यद्वद् गुणादेव गुणी यथा।
एवं विशिष्टाद्वैतं हि श्रुतिस्मृत्युदितं नृप ॥ ८ ॥'

बृहद्ब्रह्मसंहिता-रुद्रगीता.

श्रीरामानुजाचार्य के विषय में कल्पक ने जो कुछ लिखा है सो सब 'यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं' के न्याय से माननीय है, परंतु द्वापरान्त और कलि के आदि में श्री ६ कृष्ण आदि की सत्ता में मनुष्यों का विधर्मी होना तथा उसी समय में वा उस के आसपास भी श्रीरामानुजाचार्य का अवतार लेना तथा श्रीशठकोप आदि का उनसे भी पूर्व विराजमान रहना तथा 'श्रुतिस्मृत्युदित' इस लेख के अनुसार 'विशिष्टाद्वैत' शब्द का आनुपूर्विक न मिलना तथा वाल्मीकि-व्यास आदिकों के वचनानुसार विशिष्टाद्वैत प्रतिपाद्य ब्रह्मजीवैक्य के निरूपण को न पाना तथा अन्यान्य शङ्काओं का उठना-विचारशीलों के सामने उक्त प्रमाणों को अप्रामाणिक ठहराता है।

श्रीरामानुजाचार्य जिनका दूसरा नाम लक्ष्मणाचार्य[2] है, आपने अपने श्रीभाष्य में विशिष्टाद्वैत वादसे अतिरिक्त जो श्रीमध्वाचार्य[3] का द्वैतवाद, श्रीनिम्बार्काचार्यका द्वैताद्वैतवाद आदि हैं, उनका खण्डन किया है परंतु वे भी पारम्परिक-वैष्णवसंप्रदायसे सिद्ध हैं।

---

१ विशिष्टं च विशिष्टं च विशिष्टे, विशिष्टयोरद्वैतं विशिष्टाद्वैतम्। अर्थात् अव्याकृत नामरूप विशिष्ट चिदचित्, व्याकृत नामरूपविशिष्ट चिदचित्।

२ 'कपर्दिमतकर्दमे कपिलकल्पनावागुरां दुरत्ययमतीत्य तद् द्रुहिणतन्त्रयन्त्रोदरम्।
कुदृष्टिकुहनामुखे निपततः परब्रह्मणः करग्रहविचक्षणो जयति लक्ष्मणोऽयं मुनिः॥'
इति निगमान्तमहादेशिकाः।

३ 'कलौ प्रवृत्ते बौद्धादिमतं रामानुजं तथा।
शाके ध्येकोनपञ्चाशदधिकाब्दसहस्रके १०४९ ॥
निराकर्तुं मुख्यवपुं सन्मतस्थापनाय च।
एकादशशते शाके ११०० विंशत्यष्टयुगे गते ॥
अवतीर्णं मध्वगुरुं सदा वन्दे महागुणम् ॥' इति माध्वाः।

प्रमाण में उनके भाष्यादि साधन मौजूद हैं और जब एक आचार्य दूसरे के मत का खण्डन करके अपने मन्तव्य को स्थिर करते हैं तब स्पष्ट है कि उनका परस्पर में मतभेद है ऐसी दशा में कौन मत सर्वोत्तम माना जावे ? इनसे अतिरिक्त श्रीचैतन्यमहाप्रभु[1] श्रीस्वामिनारायण[2] आदिके मत हैं जो अब सज्जित होरहे हैं। प्रासङ्गिक श्लोक याद आता है—

'एकस्यैव महेश्वरस्य निगमे कृष्णादिरूपश्रुतौ
सिद्धायामपि भेदवादनिपुणाः स्वस्वार्थनिष्पत्तये।
वेदान्तान् परिवर्त्य शास्त्रवचनान्युन्मथ्य नानाशयै-
र्भेदान् वैष्णवमण्डलेऽप्यजनयञ्शैवादिवार्तैव का॥'

किं बहुना, उपास्य (ध्येयाकार) भेद, मन्त्रभेद, तिलकभेद, अङ्कनभेद, मालाभेद, एकादशी आदि व्रत[3]भेद, आचार[4]भेद ने वर्णाश्रमशृङ्खला को शिथिल करादिया, शिथिल तो कलि ने किया पर ये सब भी निमित्त कारण हुए और बहुधा आकार के भेद न होने पर भी शैवापसदों से भी वर्णाश्रमाचार को धक्का ही पहुँचा। इधर दुराग्रही वैष्णवों का

१ आप का अवतार बङ्गाल में हुआ है।

२ आपकी जन्मभूमि अयोध्यामण्डल और विकासभूमि गुर्जरमण्डल है।

३ अरुणोदयवेध, आकापालिकवेध। एकादशी सर्वमान्य व्रत है पर इसका अत्याचार दो देशों में अधिक देखा जाता है। एक वङ्ग में, जहां अदीक्षित बालविधवा भी एकादशी के घोर नियमों से मृतप्राय करडाली जाती हैं। धन्य हैं **वङ्गपण्डित महाशय**। दूसरे अयोध्याप्रान्त में किसी किसी स्थान पर एकादशी के दिन हाथी घोड़े दाना नहीं पाते।

४ अपने अपने मतानुसार दीक्षा पाये हुए शूद्रों के स्पृष्ट पक्वान्न तक के ग्रहण में परहेज न होगा परंतु अदीक्षित वैदिक ब्राह्मण के स्पर्श किये हुए जल का भी ग्रहण न किया जायगा......।

ऐसा विष्णुभक्ति में अभिनिवेश न रहा जैसा कि शिवद्रोह करने कराने में अभिनिवेश फैला, उधर दुराग्रही शैवों का भी यही प्रकार बढ़ा, दोनों वर्गों में मनमानी लौकिकी भक्तिही की घमाशानी उठी और सब भक्ति के प्रकार भूल गये इसी लौकिक-भक्ति के आडम्बर से भारत के अज्ञान नरनारी को मोहित कर अपने अपने वर्ग की वृद्धि करने लगे........।

यह कथन उन महात्माओं वा उनके अनुयायियों के लिये है जो वर्णाश्रम-शृङ्खला को घसीटते हुए अत्याचार कर रहे हैं। जो कोई अपने को अतिवर्णी का अत्याश्रमी मानते हैं और वैसाही बर्ताव करते हैं उनके लिये यह कोई कथन वा आक्षेप नहीं है, न हो सकता है। किं बहुना, अधिकारी ही कहे जाते हैं—

'ये ये हि वर्णाश्रमधर्मनिष्ठास्तानेव तानेव विशिष्यशिष्मः।
ये केऽपि वर्णाश्रमबाह्यवृत्तास्तानेरमहे वक्तुमहानि पिष्मः॥'

मुल्लक.

व्रजन्ति ते मूढधियः पराभवं
भवन्ति मायाविषु ये न मायिनः।
प्रविश्य हि घ्नन्ति शठास्तथाविधा
नसंवृत्ताङ्गान्निशिता इवेषवः।। 4।।

अन्वयः— ये मायाविषु मायिनः न भवन्ति, ते मूढधियः पराभवम् व्रजन्ति। शठाः हि निशिताः इषवः इव तथाविधान् असंवृत्ताङ्गान् प्रवश्यि घ्नन्ति।

शब्दार्थः, पर्यायवाचिशब्दाः टिप्पण्यश्च— ते—तत्, प्रथमा, बहुवचनम्, तादृशाः जनाः, वे लोग। **मूढधियः**—मूर्ख-बुद्धयः, मूढाधीः येषां, अविवेकिनः, अविवेकी, मूर्खबुद्धि। **पराभवं**—पराजयं, पराजय को, हार को, अपमान को, व्रजन्ति, गच्छन्ति, प्राप्नुति, प्राप्त करते हैं, स्वीकुर्वन्ति, स्वीकार करते हैं। **ये**—जो जन्, यत्, प्रथमा, बहुवचनम्। **मायाविषु**—माया + विन्, स०, ब० व०, कपटिषु, कपटी लोगों में। **मायिनः**—माया + इन्, प्रथमा, बहुवचनम्, कपटिनः, कपटी। **न भवन्ति**—न सन्ति, नहीं होते। **शठाः**—धूर्ताः, धूर्त लोग। **तथाविधान्**—तत्प्रकारान्, उस प्रकार के। **असंवृताङ्गान**—न संवृतानि असंवृतानि, असंवृतानि अङ्गानि येषां तान्, येषाम् अङ्गानि वस्त्र-कवचादिभिः आवृतानि न सन्ति तान्, खुले हुए अंगोवाले लोगों को। **प्रविश्य**—प्र विश् ल्यप्, प्रवेश कृत्वा, प्रवेश करके। **निशिताः**—नि + शि + क्त, तीक्ष्णाः, तीक्ष्ण। **इषवः**—इषु, प्रथमा, बहुवचनम्, बाणाः, शराः, बाण। **हनन्ति**—हन् लट् प्र० पु०, ब० व०, मारयन्ति, मार डालते हैं।

भावार्थ— ये जनाः कपटिषु कपटपूर्णम् आचरणं न कृत्वा सरलतया एव व्यवहारन्ति ते मूढाधियः सदैव तिरस्कृतः उपेक्षिताः भवन्ति। यथा बाणा अनावृत्तं शरीरं प्रविश्य विनाशयन्ति तथैव शठाः अकुटिलान् जनान् वञ्चयित्वा तान् विनाशयन्ति।

प्रसंग— प्रस्तुत पद्य पाठ्यपुस्तक के 'सुधामुचः वाचः' पाठ तथा मूलतः 'किरातार्जुनीयम्' (भारविकृत) से लिया गया है। इस श्लोक में कूटनीति के मूल सिद्धान्त को प्रस्थापित किया गया है।

सरलार्थ— जो कपटियों के प्रति कपटी नहीं होते, वे मूर्ख बुद्धि लोग पराजय को प्राप्त करते हैं। जिस प्रकार तीखे बाण खुले अंगों वाले शरीरों में प्रवेश करके प्रताड़ित करते हैं वैसे ही धूर्त लोग छिद्रों को ढूँढकर उनमें प्रवेश करके भोले-भाले लोगों को मार डालते हैं।

व्याख्याः— जो लोग कपट भरे लोगों के प्रति कपटपूर्ण व्यवहार नहीं करते अपितु, उनके साथ भी सरलता का व्यवहार करते हैं, वे मूर्ख बुद्धि लोग सदा तिरस्कृत और उपेक्षित होते हैं। जैसे बाण खुले शरीर में प्रवेश कर उसे नष्ट कर डालते हैं वैसे ही धूर्त जन सरल व्यक्तियों को ठगकर उन्हें मरवा देते हैं।

'उभयोरेका प्रकृतिः प्रत्ययभेदाच्च भिन्नवद्भानि।
कश्चिन्मूढः कलयति हरिहरभेदं विना शास्त्रम् ॥'
इत्यादि।

और उक्त वैष्णवलोग, जो चार संप्रदायों में विभक्त हैं और जिन संप्रदायों की जाग्रति भारत के अन्तिम सम्राट् पृथ्वीराज चौहान के बाद हुई है; उनमें से पहिले संप्रदायवाले श्रीविशिष्टाद्वैतवादी (आचारी लोग) अपने मत ग्रन्थों में, जो श्रुति स्मृति पुराण इतिहास में धक्का लगानेवाली विष्णुभक्ति प्रकट की है उसका दिग्दर्शन किया जाता है—

'तापादिपञ्चसंस्कारैर्महाभागवताः स्मृताः।
चक्रादिहेतिभिस्तप्तं ताप इत्यभिधीयते ॥
संस्कारः प्रथमः प्रोक्तो द्वितीयः पुण्ड्रधारणम्।
तृतीयो नामकरणं वैष्णवं पावनं परम् ॥
सार्थज्ञानं चतुर्थं स्यान्मन्त्राध्ययनमुच्यते।
पञ्चमस्तु हरेः पूजा पञ्चरात्रोक्तमार्गतः ॥
तदीयार्चनपर्यन्तं हरेराराधनं स्मृतम्।
इत्येवमादिसंस्कारी महाभागवतः स्मृतः ॥
अन्येत्ववैष्णवाः प्रोक्ता हीनास्तापादिभिर्द्विजाः।
तथा ह्यवैष्णवा ज्ञेयाः प्राकृताः पापकारिणः ॥
वादशास्त्रेषु निपुणास्ते वै निरयगामिनः।
अवैष्णवत्वं विप्राणां महापातकसंमितम् ॥

---

१ आशय। विष्णु और शिव, इन दोनों का भक्तवत्सलता आदि एक ही स्वभाव है, पर ज्ञानभेद से दो मत मिलते हैं सो यह मानना सर्वनाश का निशान है। एवं, विष्णु शिववाचक—हरि हर नाम से भी वही बात सिद्ध होती है—हरि हर की एक प्रकृति (धातु) है प्रत्यय (अ-इ) भेद से दो नाम मालूम होते हैं, वह शास्त्र विरुद्ध है।

अवैष्णवस्तु यो विप्रः सर्वकर्मसु गर्हितः।
रौरवं नरकं प्राप्य चाण्डालीं योनिमाप्नुयात् ॥
चतुर्वेदी च यो विप्रो वैष्णवत्वं न विन्दति।
वेदभारभराक्रान्तः स वै ब्राह्मणगर्दभः ॥
पाखण्डितं च पतितमुन्मत्तं शवहारिणम्।
अवैष्णवं द्विजं स्पृष्ट्वा सवासा जलमाविशेत् ॥
चक्रादिचिह्नहीनेन स्थाप्यते यत्र कर्मणि।

कई स्थान में है। (वैष्णव प्रदीप)

२ विज्ञजन 'आदि' शब्द का अर्थ ढूँढ़ें।

३ आप लोगों की भारद्वाजसंहिता का वचन है कि-

'नातिसङ्गं परिचरेत् पित्रादीनप्यवैष्णवान्।
ब्रह्मरुद्रदिगीशार्कतच्छक्तिप्रभवादयः॥
नित्यमभ्यर्चने वर्ज्याः कामोऽपि स्यान्न तन्मुखः॥'

नहीं। यह बात मनु, याज्ञवल्क्य, व्यास आदि के वाक्यों से विवेक रखनेवालों को अज्ञात नहीं है इसीलिये अधिक कहना व्यर्थ है। और उक्त वाक्यों से जो चक्रशंख से शरीर का अङ्कन तथा ऊर्ध्वपुण्ड्र का धारण विधान किया है उसमें से चक्र-शङ्ख वा धनुर्बाण से वैष्णवों का अङ्कन[1]; और त्रिशूल-डमरू से शैवों का अङ्कन[2]; त्रैवर्णिकों[3] का धर्म नहीं है, किंतु अन्यों का धर्म है। और ऊर्ध्वपुण्ड्र का धारण त्रैवर्णिक-धर्म भी है; परन्तु नाना द्रव्यों से नानाप्रकार का ऊर्ध्वपुण्ड्र सर्व-वैष्णव-मान्य नहीं है, अत एव प्रत्येक संप्रदायों के ऊर्ध्वपुण्ड्रों के आकार पुराणों में नहीं प्राप्त होते। अङ्कन के विषय में कतिपय श्रुति प्रमाण दी जाती हैं उनमें से पहली श्रुति यह है—

'पवित्रं ते विततं ब्रह्मणस्पते प्रभुर्गात्राणि पर्येषि विश्वतः।
अतप्ततनूर्नतदामोऽश्नुते भृतास इद्वहन्तस्तत्समासत॥'
(ऋक् सं० ७ अष्टक ३ अध्या० ८ वर्ग ५ मं०)

इस मन्त्र से अङ्कन कथमपि नहीं सिद्ध होता। यह सोम के सम्बन्ध का मन्त्र है (देखिये वेदभाष्य)

दूसरी श्रुति—

'सहोवाच याज्ञवल्क्यः, तस्मात् पुमान् आत्महिताय हरिं भजेत्। सुश्लोकमौलेर्वर्माण्यग्निना संदधते॥'

यह श्रुति 'शतपथ' के नाम से निर्णयसिन्धु में लिखी है; परंतु 'शतपथ' में नहीं प्राप्त होती।

१-२ धनुर्बाण से अङ्कन अर्थात् तप्तमुद्रा धारण वैरागियों में और त्रिशूल-डमरू से अङ्कन लिङ्गायतों में प्रसिद्ध है।

३ शिवकेशवयोरङ्कान् शूलचक्रादिकान् द्विजः।
न धारयेत मतिमान् वैदिके वर्त्मनि स्थितः॥'

निर्णयसिन्धु २ परि.

तीसरी श्रुति—

'प्रतद्विष्णो अब्जचक्रे सुतप्ते जन्माम्भोधी तर्तवे चर्षणीन्द्राः ।
मूले बाह्वोर्दधन्ये पुराणा तु लिङ्गान्यङ्के तप्तायुधान्यर्पयन्त ॥'

यह श्रुति सामवेद के नाम से लिखी है, परंतु उसमें नहीं प्राप्त होती । यदि कहीं 'अल्लोपनिषद्' के समान कल्पित भाग में मिले तो भलेही मिलो ।

और—

'अग्निहोत्रं तथा नित्यं वेदस्याध्ययनं तथा ।
ब्राह्मणस्य तथैवेदं तप्तमुद्रादिधारणम् ॥'

यह पद्मपुराण का वचन है, इसमें वेदपाठ-अग्निहोत्र के तुल्य अङ्कन-विधि लिखी है, यदि वास्तव में ऐसी ही होती तो वेदपाठ अग्निहोत्र के समान अङ्कनविधि भी ब्राह्मण, कल्पसूत्र और मन्त्रादि ग्रन्थ में अभ्रान्त प्राप्त होती और वेदपाठ अग्निहोत्र के समान अङ्कन के विषय में किसी को संदेह न उत्पन्न होता । परंतु इस अङ्कन (तप्तमुद्राधारण) को श्रीरामानुजाचार्य तथा श्रीमध्वाचार्य के संप्रदायवालों को छोड़कर अन्यसंप्रदायी भी नहीं मानते तो औरों की क्या कथा है ?

ऊर्ध्वपुण्ड्र विशेष के विषय में ये वचन मिलते हैं—

नारद उवाच ।

ऊर्ध्वपुण्ड्रविधिं द्रव्यमन्त्रस्थानादिसंयुतम् ।
ब्रूहि मे देवदेवेश यथाहं धारयामि (वै) ॥ ७६ ॥

श्रीवासुदेव उवाच ।

श्वेतं पीतं तथा रक्तं द्रव्यं तु त्रिविधं स्मृतम् ।
पुण्ड्राणां धारणे विप्र मयैव प्रकटीकृतम् ॥ ७७ ॥
तेषु रक्तं श्रिया देव्या मत्स्नेहात्प्रकटीकृतम् ।

श्रीकुङ्कुमेति विख्यातं सदा माङ्गलिकं मुने ॥ ७८ ॥
केवलं भक्तिदं पुंसाममङ्गलविनाशनम् ।